

सबके लिए शिक्षा : तस्वीर अभी धुँधली है

अनंत गंगोला

‘सबके लिए शिक्षा’ की संकल्पना दरअसल एक समावेशी समाज की संकल्पना की आधारभूमि है। यह शिक्षा की उपलब्ध संकल्पना का विस्तार भर नहीं है। इसलिए इस बात पर विचार करना ज़रूरी है कि शिक्षा के सन्दर्भ में उपलब्ध मौजूदा मान्यताएँ, प्रक्रियाएँ और संसाधन क्या ‘सबके लिए शिक्षा’ के संकल्प को साकार करने के लिए पर्याप्त हैं या इनमें आधारभूत बदलाव की ज़रूरत है? अनंत गंगोला का यह आलेख इस सन्दर्भ में हमारे बुनियादी कदम, सरोकारों और बदलते सन्दर्भ की ज़रूरतों का विश्लेषण करता है। सं.

एक बुनियादी कदम

नब्बे के दशक में जब ज़िला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम की शुरुआत हुई तब से लेकर इसके बाद के दो दशकों तक हमारे देश में ‘सबके लिए शिक्षा’ को लेकर जो कुछ भी हुआ है उसे मानवीय सभ्यता के तात्कालिक सन्दर्भ में हुए किसी मामूली काम की तरह नहीं देखा जा सकता या नहीं देखा जाना चाहिए। देश की आज़ादी के बाद के शुरुआती चार-पाँच दशकों की स्मृति में शामिल पीढ़ियों ने शिक्षा की पहुँच सब तक होते हुए नहीं देखी थी। बड़ी संख्या में कई तबके शिक्षा की परिधि से दूर ही थे। यह दूरी महज़ विद्यालय के भवन से बच्चों के घर की दूरी मात्र नहीं थी। दूरियाँ मान्यताओं की थीं और सामाजिक, शैक्षिक प्राथमिकताओं की भी। इस दौर में एक समावेशी समाज की संकल्पना में शिक्षा की भूमिका को न पहचानने की कमी भी थी। नतीजतन, ज़माना एक समावेशी समाज की कल्पना की दिशा में कुछ बुनियादी कदम भी नहीं ले पाया था। ‘सबके लिए शिक्षा’ के प्रावधान और प्रयास इन तीन दशकों से पहले इस तरह के संस्थागत संकल्प के साथ नहीं हो पाए थे। इस स्थिति की वजह, विचार का अभाव

थी या समाज की सामूहिक चेतना, प्राथमिकताएँ या संसाधनों का अभाव या फिर इन चारों बातों का मिश्रण। वजह चाहे जो भी रही हो, पर यह हो नहीं पाया था, यह यथार्थ है।

‘सबके लिए शिक्षा’ ने हमारे समाज को, एक ज़्यादा बराबरी के अवसर देने वाले समाज में बदलने की दिशा में निमंत्रित किया है। हमारी पीढ़ी के सामने निराशा, दरिद्रता, असमानता और अभाव से घिरे हुए तमाम लोगों के जीवन में उत्साह, आत्मविश्वास, विचार और ज्ञान के अवसर प्रदान करने का एक अवसर है। समाज के तात्कालिक इतिहास में, कई लोग इसे ‘समावेशी समाज’ की परिकल्पना को साकार करने की दिशा में एक बड़े क़दम के रूप में स्वीकार भी करते हैं। ‘सबके लिए शिक्षा’ का सपना भले ही चन्द लोगों ने लम्बे समय से देखा था, पर इस सपने को धरातल पर उतारने की क़वायद ज़्यादा पुरानी नहीं है। आज़ादी के बाद के शुरुआती दशकों में हमारे देश में बड़ी संख्या में ऐसे इलाके थे जहाँ विद्यालय तो उपलब्ध थे ही नहीं, सबको शिक्षित करने का विचार भी नदारद था। जहाँ बच्चे और विद्यालय दोनों ही उपलब्ध थे वहाँ भी सबको शिक्षा में शामिल

करने के संकल्प और आमंत्रण का अभाव था।

हमारे सरोकार

हम इस लेख में इस चर्चा में नहीं जा रहे हैं कि 'सबके लिए शिक्षा' की संकल्पना को आने में इतना वक्रत क्यों लगा? इस लेख में इस सन्दर्भ में चर्चा की कोशिश की गई है कि 'सबके लिए शिक्षा' की संकल्पना क्या 'शिक्षा के लिए उपलब्ध संकल्पना' में महज़ विस्तार का मामला बनती है? या फिर 'सबके लिए शिक्षा' को सरअंजाम तक ले जाने के लिए शिक्षा की उपलब्ध बुनियादी मान्यताओं, परम्पराओं, प्रक्रियाओं आदि में आधारभूत बदलाव का आग्रह करती है? क्या 'सबके लिए शिक्षा' के यह अवसर हालिया उपलब्ध समझ, उपलब्ध सरोकारों, उपलब्ध संरचनाओं, उपलब्ध संवेदनाओं, उपलब्ध संसाधनों और उपलब्ध तरीकों से सम्भव हैं? या फिर नई समझ, नए सरोकार और नई संवेदनाओं के साथ कुछ नए तरीके, नई संरचनाएँ और नए मापदण्ड भी बनाने होंगे?

नए नज़रिए : बदलते सन्दर्भ की ज़रूरत

'सबके लिए शिक्षा' के अन्तर्राष्ट्रीय आग्रह और दबाव के बीच हमारे देश में भी हरेक बच्चे के लिए मानव जीवन की लगभग अनिवार्य बन चुकी सीढ़ी चढ़ने (यानी पढ़ने-लिखने की दुनिया में प्रवेश) का अवसर निर्मित किया गया। परिणामस्वरूप देखते ही देखते बड़ी संख्या में नए विद्यालय, नए शिक्षक और नए विद्यार्थी शिक्षा की व्यवस्था में शामिल होने लगे।

जैसा कि होता ही है, हर बड़ा बदलाव अपने साथ कुछ और बदलाव भी लाता है। 'सबके लिए शिक्षा' के इस नवनीत दौर ने भी अपने साथ कई नए बदलावों की शुरुआत की। इससे जो दो बड़े बदलाव आए, उनमें से एक था सरकारी स्कूलों में बड़ी संख्या में अब तक शिक्षा से दूर रहे वर्ग, वर्ण और लिंग के बच्चों का आगमन और सम्पन्न वर्ग का सरकारी शिक्षा व्यवस्था से

धीरे-धीरे बढ़ता अलगाव। आर्थिक रूप से सम्पन्न वर्ग प्राइवेट स्कूलों की ओर बढ़ चला। नतीजतन जहाँ भी विकल्प मौजूद थे वहाँ सरकारी स्कूल शनैः शनैः विकल्पविहीन और गरीब पृष्ठभूमि के बच्चों के स्कूलों में परिवर्तित हो गए। दूसरा बदलाव था सरकारी शिक्षा के संचालन, प्रबन्धन में अशासकीय / स्वैच्छिक संस्थाओं के सरकारी तंत्र के साथ मिलकर काम करने की सम्भावना के लिए जगह / स्पेस का बनना। बड़ी संख्या में राष्ट्रीय, प्रादेशिक और स्थानीय स्तर पर काम करने वाली संस्थाओं ने सरकारी तंत्र के साथ स्कूल से लेकर निदेशालय, सचिवालय स्तर पर अलग-अलग भूमिकाएँ निभाना शुरू किया। यानी माना जा सकता है कि मैदान में काफी लोग और विभिन्न प्रकार के विमर्श उपलब्ध हुए।

जो भी हुआ, जितना भी हुआ पर शिक्षक समुदाय और व्यापक समाज में 'सबके लिए शिक्षा' की चर्चा सर्वतोमुखता से होने लगी। आज की तारीख में शिक्षा की व्यवस्था को लेकर जो प्रमुख विवरण समाज में उपलब्ध हैं, उनमें से एक प्रकार के विवरण 'सबके लिए शिक्षा' के इस भागीदारी प्रयास में होने वाले कुछ रोचक और सकारात्मक प्रयासों के उल्लेख से मिलकर बनते हैं। एक तरह की उम्मीद बाँधने वाले प्रयास। इन्हें हम 'सबके लिए शिक्षा' के सपने को साकार करने की चुनौतियों की समझ रखने वाले लोगों द्वारा इस महत्वाकांक्षी काम को अंजाम देने वाले, शिक्षा के कर्म में जुटे शिक्षकों और अन्य शिक्षा-सेवियों में आशा का संचार करने वाले उदाहरणों से बने विवरण कह सकते हैं। इस तरह के विवरण काफी कम मात्रा में उपलब्ध हैं।

दूसरे विवरण, जो बहुत ज्यादा उपलब्ध हैं, वह इस महाकर्म की असफलताओं के चित्रण से पटे हुए हैं जिसमें विद्यालय से शिक्षा, शिक्षक और बच्चों के नदारद होने के प्रसंग, बच्चों के लिखने और पढ़ने की अपेक्षित दक्षता के अभाव के लेख-जोख आदि बहुतायत से शामिल हैं।

इन परस्पर विरोधाभासी विवरणों के बीच एक समानता भी है। यह दोनों ही विभिन्न व्यक्तियों और संस्थाओं की समाज और शिक्षा को लेकर चिन्ता एवं चिन्तन से उपजे हुए हैं। जिस विषय विशेष या प्रसंग को लेकर बातें की जा रही हैं अगर मामला सिर्फ उतना ही है तो यह विवरण सच ही मालूम होते हैं। पर अगर हम 'सबके लिए शिक्षा' के व्यापक सन्दर्भ में देखें, जिसमें समाज की इच्छाशक्ति, शिक्षक और शिक्षा तंत्र की इसे सरअंजाम देने की तैयारी और क्षमता आदि बातें शामिल हों, तो इन उपलब्ध कथनों की प्रासंगिकता अलग-अलग तरह से सामने आती है।

पहले प्रकार के विवरण, एक तरह से उम्मीद जगाने का काम करते हैं या यूँ कहा जाए कि यह निराशा से कुछ हद तक लड़ने का काम तो कर ही देते हैं। जो दूसरी तरह के विवरण हैं वह जाने-अनजाने पहले से हताश समाज में कुछ और निराशा उड़ेलने का काम कर जाते हैं। शिक्षा के मानक नए सिरे से तलाशने की बात का आधार ही यह है कि दी हुई परिस्थिति में हो रहे इस महाकर्म को देखने के लिए एक नई दृष्टि बनाई जाए।

'सबके लिए शिक्षा' का आग्रह मेरी समझ और दृष्टि में एक बहुत चुनौती भरा एवं सर्वथा नया सामाजिक सन्दर्भ है। इस सर्वथा नए सन्दर्भ यानी 'सबके लिए शिक्षा' वाली संकल्पना का आकलन, शिक्षा के लिए पहले से उपलब्ध मानकों और लेंसों से करना कितना उपयुक्त है यह प्रश्न तो उठता ही है। यदि हम ऐसा करते हैं तो यह मापन और मूल्यांकन समूचे दृश्य में खामियों को ही उभार पाता है। यह खामियाँ चाहे कितनी भी प्रामाणिक ही क्यों न हों पर इस सन्दर्भ का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। नतीजतन, यह आकलन जो तस्वीर प्रस्तुत करते हैं वह अधूरी और काफी हद तक गलत बयान करती प्रतीत होती हैं। दूसरा खतरा यह है कि इस तरह यह 'सबके लिए शिक्षा' के कर्म में जुटे, सरकार से लेकर शिक्षक और वृहद समाज को

जाने-अनजाने निराशा ही परोस पाती है। कोई रास्ता और समाधान सुझाती नहीं दिखती।

बदलते सन्दर्भ : हमारी समझ और संवेदनाएँ

हमारा देश तमाम किस्म की विविधताओं से भरा हुआ तो है ही, साथ ही यह तमाम किस्म की असमानताओं से भी भरपूर है। बच्चे, शिक्षक और शिक्षाकर्म से जुड़े लोग पुरुष-प्रधान व सामन्ती मानसिकता और मान्यताओं से युक्त समाज से आते हैं और इन तमाम सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक असमानताओं के बीच ही विद्यालय भी चलता है। इसमें तीसरा आयाम यह भी है कि शिक्षाकर्म सामाजिक-राजनीतिक समानता, आपसी भाईचारे और सहृदयता से परे अपना अर्थ ही खो देता है।

चलिए कुछ घटनाओं के ज़रिए इस मसले पर नज़र डालते हैं। ज़िला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान (डायट) के प्राचार्य मध्य भारत के एक ज़िले के गाँव में विद्यालय भ्रमण पर पहुँचे। विद्यालय की उपस्थिति पंजी का अवलोकन करते हुए उन्हें लगा कि बच्चों के नाम अटपटे हैं। प्राचार्यजी ने शिक्षक से इस बात पर चर्चा की। शिक्षक बोले, "साहब मैं क्या कर सकता हूँ? इनके अनपढ़ माँ-बाप ने इनके यही नाम रखे हैं।" प्राचार्यजी ने बच्चों को अपने माता-पिता को बुलाकर लाने के लिए घर भेज दिया। विद्यालय गाँव से लगा हुआ था। गाँव में मुख्यतः बहेलिया समाज के लोग रहते थे। पक्षी पकड़ने का उनका रोज़गार प्रायः सुबह या फिर शाम के वक़्त होता है। अतः यह लोग दिन के वक़्त घरों में ही मिल गए। कुछ ही देर में बच्चों के पालक स्कूल में आ गए और फिर प्राचार्यजी ने एक-एक कर बच्चों के नाम बदलकर, अपनी समझ में उन्हें ज़्यादा सुसंस्कृत या सभ्य माने जाने वाले नाम देने प्रारम्भ कर दिए। मसलन चिन्ता बाई का नाम चेतना कुमारी कर दिया। कल्ली बाई का नाम कलावती आदि, माता-पिता को इस बात के औचित्य का अन्दाज़ भले ही

लगा हो या न लगा हो, पर उन्होंने इस पर कोई बड़ा एतराज़ नहीं किया। शायद यह मानकर कि शिक्षा प्राप्त करने की यह कोई अनिवार्यता होगी उन्होंने अपना मन बहला लिया।

यह घटना कुछ इस तरह के प्रश्न उठाती है—

- चिन्ता बाई और कल्ली के नाम क्यों बदलने पड़े?
- जिन बच्चों के नामों के लिए ही जगह नहीं है, क्या उनके जीवन-अनुभव के लिए कोई जगह यह विद्यालय बना पाएगा?
- शिक्षा किस वर्ग के लिए है? चेतना कुमारी और कलावती जिस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते हैं, क्या सिर्फ उसी वर्ग के लिए?
- क्या शिक्षा पाने के लिए एक खास वर्ग को अपनी सांस्कृतिक पहचान और आत्मसम्मान त्यागना होगा?

कुछ और उदाहरण भी लिए जा सकते हैं— जैसे, विद्यालयों में सबसे स्वच्छ वस्त्र वाले बच्चे को प्रोत्साहित करने या गन्दे वस्त्र पहनकर आए बच्चों को सज़ा देने जैसी घटनाएँ बहुत आम हैं और इन्हें ध्यान से न देखने पर हमारा ध्यान इनसे होने वाले भावनात्मक नुकसान की ओर जाता भी नहीं है। भाषा भी एक बड़ा मसला है जिसका मानक स्वरूप, उपयुक्त उच्चारण आदि पहली बार शिक्षा की परिधि में आने वाले बच्चों के सामने उनकी अस्मिता को लेकर ही उलझन पैदा कर देता है। किसी भी जगह की प्रचलित भाषा को नहीं जानने की दुविधा को जिसने भी अनुभव किया है उसे यह मानने में कोई दिक्कत नहीं होगी कि यह सिर्फ असुविधाजनक ही नहीं वरन आत्मविश्वास हिला देने वाला होता है। शिक्षक इनसे जूझते हुए कई बार इस तरह की परिस्थिति से आने वाले बच्चों को ‘यह नहीं सीख सकते’ की श्रेणी में रख देते हैं।

यह सारी घटनाएँ शिक्षा के प्रति उपलब्ध समझ और संवेदनाओं को सवालियों के घेरे में खड़ा कर देती हैं। बड़ा सवाल यह है कि क्या बच्चों को शिक्षा के तयशुदा साँचों से ही गुज़रना होगा या शिक्षा के साँचों में भी बच्चों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुरूप कुछ परिवर्तन करने या लचीलेपन की सम्भावना है? सीखने में पूर्वज्ञान की अन्तः क्रिया के महत्त्व को प्रतिपादित करने पर रुकी हुई बात को शिक्षक की समझ और विद्यालय की प्रक्रियाओं में कैसे शामिल किया जाएगा? ‘क्या करना’ के सवाल को ‘कैसे करना’ तक न पहुँचाने पर शिक्षक को मदद हो रही है या उसकी उलझन बढ़ रही है?

शिक्षक की तैयारी और स्वायत्तता

इस सन्दर्भ में, मुझे अपने अध्यापन के समय की एक घटना काफी याद आती है क्योंकि उसने मुझे बहुत सोचने पर मजबूर किया था। गुन्दीलाल नाम के एक विद्यार्थी को लेकर बच्चे बार-बार मुझसे शिकायत कर रहे थे कि वह उन्हें परेशान कर रहा है। मैं बच्चों को काम देकर स्वयं अपने किसी काम में लगा था अतः मेरा पूरा ध्यान कक्षा पर नहीं था। मैंने बच्चों की शिकायत को थोड़ा कम गम्भीरता से लिया और अपने काम में लगा रहा। जब बार-बार बच्चों की शिकायत को टालना मुश्किल हो गया तो मैंने गुन्दीलाल को बुलाया और उसे सज़ा देने के अन्दाज़ में कहा— “तुम बहुत बदमाशी कर रहे हो, चलो कान पकड़ो!” गुन्दीलाल ने कोई प्रतिक्रिया नहीं की तो मैंने दोबारा उसे थोड़ी ऊँची आवाज़ कर कहा— “चलो, कान पकड़ो!” इस बार वह आगे बढ़ा और उसने मेरे कान पकड़ लिए। पहले तो मैं उसकी इस हरकत से हैरत और क्रोध में पड़ गया फिर मुझे लगा कि मेरे निर्देश में कान पकड़ने की बात थी। किसके कान पकड़ने हैं, इस बात का तो कोई ज़िक्र नहीं था। तो, गुन्दीलाल की तो कोई गलती नहीं है। इस घटना को अपने शिक्षण के दौरान हुए एक रोचक प्रसंग के रूप में तो याद किया ही जा सकता है पर ज़्यादा बड़ी बात

जिसकी ओर इस बात ने ध्यान खींचा वह थी कि प्रथम पीढ़ी के स्कूल में आने वाले बच्चों की शिक्षा के साथ जुड़ने के लिए जिस तरह की तैयारी शिक्षक के पास होनी चाहिए वह मेरे पास नदारद थी। विद्यालयों का माहौल और उसमें होने वाली प्रक्रियाएँ पहली पीढ़ी के बच्चों के लिए नई तो होंगी ही और साथ ही साथ यह उन्हें अजीब भी लग सकती हैं— उनके तर्क से विपरीत हो सकती हैं। जैसे गुन्दीलाल को ‘कान पकड़ने’ का न तो ‘सज़ा’ के साथ कोई तर्कपूर्ण सम्बन्ध लगा और ना ही ऐसे किसी व्यवहार से उसका कोई पुराना ताल्लुक था। ऐसी कई बातें हैं जिनके लिए यह ‘मान’ लिया जाता है कि सभी बच्चों का उनसे परिचय होगा।

मध्यप्रदेश के रायसेन जिले के एक जंगल के बीचों-बीच स्थित आदिवासी गाँव में प्रथम पीढ़ी के बच्चों के साथ काम करने के अनुभव ने यूँ तो कई बातें सिखाईं, पर इनमें से जिस बात का ज़िक्र मैं यहाँ करने जा रहा हूँ वह इस लेख के केन्द्रीय विचार, ‘सबके लिए शिक्षा’ को पुष्ट करती है। सदियों से दिनभर बकरी चराते, खेत में होरिया (चिड़िया) भगाते, तेन्दूपत्ता तोड़ते, महुआ बीनते, मूसरी खोदते, पेड़ों पर चढ़ते, नदियों में तैरते, गोण्ड आदिवासी समाज के बच्चों को जब मैंने पढ़ाना शुरू किया तो शुरुआत में ही इस बात का एहसास हो गया कि इन बच्चों को 4-5 घण्टे तक एक ही जगह (विद्यालय) में सिर्फ बैठा पाना ही अपने आप में बेहद चुनौती भरा काम है। फिर लिखने-पढ़ने की दक्षताएँ प्रदान करना कैसे हो सकेगा। यह बच्चे कई पीढ़ियों से दिनभर में कई किलोमीटर चलने और बेहद शारीरिक श्रम करने के आदी रहे हैं। फिर किसी एक जगह पर लम्बे समय बैठना कैसे सम्भव होगा? जिस क्षेत्र के लोगों का बाज़ार मंगलवार को होता है उनके लिए रविवार की छुट्टी के क्या मायने? फसल बोने, नीदने और कटाई के समय छोटे किसानों के परिवार में बच्चों की भूमिकाएँ किस तरह से बदलती हैं? इस तरह सन्दर्भ का स्कूल के संचालन से क्या सम्बन्ध है? स्कूल स्तर पर

काम करने वाले तमाम लोगों के सामने इस तरह की कई बातें आती हैं। यह बातें विद्यालय को नए तरह से देखने को बाध्य करती हैं। हमारे लिए सीखने-सिखाने की प्रक्रिया के लिए एक निर्धारित स्थान और उसमें समयबद्ध 45 मिनट के विषय आधारित खण्ड (पीरियड) जैसी शिक्षा की लगभग तय अवधारणाओं से बाहर जाना अनिवार्य हो गया है। बच्चों की शारीरिक एवं सांस्कृतिक बनावट और आदतों व रुचियों को ध्यान में रखकर शिक्षा का उपक्रम करने की बात शिक्षा को नए सिरे से परिभाषित करने की ज़रूरत को ही रेखांकित करती है। साथ ही शिक्षा में लचीलेपन और शिक्षक की स्वायत्ता की माँग भी करती है।

एक शिक्षक के रूप में काम करते हुए मेरे लिए परिस्थितियाँ कुछ अनुकूल थीं। जैसे— विद्यालय का शासकीय न होना और न ही उसे शासकीय मान्यता की कोई दरकार थी। फिर जिस गाँव में मैं कार्य कर रहा था वहाँ के लोगों के अनुभव और आग्रहों में भी शिक्षा की एक निर्धारित तस्वीर नहीं थी। यह दोनों बातें बच्चों की रुचि और सन्दर्भों के प्रकाश में नए प्रयोग करने की सहूलियत प्रदान कर गईं। और इसी अकस्मात उपलब्ध स्वायत्ता का एक शिक्षक के रूप में मैंने भरपूर उपयोग किया। नतीजे भी अपेक्षाकृत रूप से बेहतर आए। अधिकतर बच्चे बड़ी ही रुचि के साथ पढ़ने-लिखने की दुनिया में प्रवेश पा गए। उनमें से लगभग आधे बच्चों की पढ़ाई इस विद्यालय के बाद भी जारी रही और अपने आस-पास के गाँवों के बच्चों की तुलना में वह शिक्षा के क्षेत्र में काफी आगे निकले। बच्चों की सांस्कृतिक पहचान खोने और आत्मविश्वास डिगने जैसे प्रसंग भी नहीं हुए।

सबके लिए शिक्षा : निहितार्थ

एक बच्चा जब विद्यालय की दहलीज़ चढ़ता है तो वह अपने साथ बस्ता-झोला, सिलेट-कलम और कॉपी-किताब ही नहीं लाता बल्कि अपनी समूची सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, अपना भरा हुआ या फिर खाली पेट,

अपनी जिज्ञासाएँ, अपने भय, झोंप-झिझक, अपनी मातृभाषा और भी न जाने क्या-क्या लाता है। और अगर यह बच्चा किसी ऐसे परिवार से आता है जिस परिवार में शिक्षा नामक उपक्रम से पहले का रिश्ता नहीं रहा हो तो विद्यालय और शिक्षक का काम और अधिक लचीलेपन की माँग करता है। विद्यालय या शिक्षक के आग्रह यदि कठोर हों और उनमें बच्चे की आवश्यकता के अनुरूप ढलने की क्षमता और इच्छाशक्ति न हो तो नतीजा एक ही निकलता है और इस नतीजे को समाज बच्चों की असफलता के रूप में देखता है। वंचना की मार झेल रहे गुन्दीलाल, चिन्ता बाई या कल्ली जैसे बच्चों के विद्यालय में सफल होने के लिए ऐसे अवसर निर्मित करने होंगे जो उनके अनुभवों, संस्कृति और प्रतिभाओं को शामिल कर सकें। विद्यालय में क्या हो और कैसे हो, इसको भी इन बच्चों की ज़रूरतों और परिवेश की कसौटी पर खरा उतरना होगा।

‘सबके लिए शिक्षा’ के इस कर्म में यूँ तो मंत्रियों, अफसरों, शिक्षाविदों से लेकर शिक्षक तक एक लम्बी फ़ेहरिस्त है। इस फ़ेहरिस्त में अब स्वयंसेवी संस्थाओं के कर्मी भी शामिल हो गए हैं। पर इन सबके बीच में जो सबसे महत्वपूर्ण किरदार है वह शिक्षक का ही है। शिक्षक को विचार, संसाधन, स्वायत्तता और सम्मान उपलब्ध कराने की ज़िम्मेदारी बुनियादी तौर पर उस ढाँचे की है जिसे हम सरकारी शिक्षा व्यवस्था के रूप में समझते हैं। इसमें नीति निर्माता, प्रशासक, प्रशिक्षण संस्थाएँ सभी शामिल हैं। ‘सबके लिए शिक्षा’ का काम करने के लिए जितनी समझ, संसाधन और सम्मान शिक्षक को

उपलब्ध है, क्या वह उपयुक्त है? पर्याप्त है? शिक्षकों और शिक्षा के हालात पर सवाल उठाने से पहले हमें यह सवाल पूछना ज़रूरी होगा।

मेरे दृष्टिकोण में ‘सबके लिए शिक्षा’ के विशिष्ट सन्दर्भ में काम करने के लिए शिक्षक को जिस तरह की मूलभूत तैयारी मिलनी चाहिए, सरकार और समाज उसे पूरा नहीं कर पा रहे हैं। वजह चाहे विचार की कमी हो या संसाधन का अभाव। जब काम नया और चुनौतीपूर्ण हो और तैयारी में भी अधूरापन हो तो बहुत बड़े पैमाने पर सकारात्मक परिणाम आखिर कैसे आएँगे? ‘सबके लिए शिक्षा’ को यदि हम समावेशी समाज की ओर जाने की दिशा में उठाया गया एक बुनियादी क़दम माने तो इससे उपजने वाले सरोकार, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की हमारी समझ में मात्र भाषा, गणित एवं अन्य विषयों के परम्परागत शिक्षण और आकलन पर पूर्ण निर्भरता कहाँ तक उपयुक्त होगी? हमें समाज की शिक्षा से अपेक्षाओं को नए सिरे से परिभाषित करने और पाठ्यचर्या से लेकर ‘शिक्षक की तैयारी’ को भी नई दृष्टि से देखने की ज़रूरत है।

एक ऐसी साझी समझ बने जो एक तरफ सामूहिक चेतना में ‘सबके लिए शिक्षा’ को एक बेहतर समाज की रचना के केन्द्र में स्थापित करे, इस नए सामाजिक उपक्रम में लगे लोगों के प्रति धैर्य प्रदान करने एवं मनोबल बढ़ाने वाले वातावरण को प्रोत्साहन दे और साथ ही इस नई शिक्षा के वाहक शिक्षकों को सम्मान, समर्थन एवं सम्बलन प्रदान करे।

अनंत गंगोला ने मध्यप्रदेश के आदिवासी गाँव नीलगढ़ में वर्षों रहते हुए आदिवासी समाज के जीवन और परिवेश का गहन अध्ययन व बच्चों की वैकल्पिक शिक्षा के लिए काम किया है। उन्होंने जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम के जिला परियोजना समन्वयक के रूप में भी काम किया है। वे तेरह वर्षों से अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन में कार्यरत हैं। फ़िलहाल अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में विश्वविद्यालय और संगठन की मैदानी संस्थाओं के बीच समन्वय के कार्यों से जुड़े हैं।
सम्पर्क : anant@azimpremjifoundation.org